यह लेख पाठ्यपुस्तकों पर उठी बहस के संदर्भ में तार्किकता बनाम भावनाएं, राज्य बनाम शिक्षा, एकल पाठ्यपुस्तकें बनाम विविध पाठ्यसामग्री आदि के द्वंद्वों को सामने रखता है। साथ ही लोकतांत्रिक राज्य में संसद एवं विधानसभा की सर्वोच्चता को स्वीकार करने की पैरवी करता है। किसी तरह के विवाद के उत्पन्न होने पर उन्हें हल करने के लिए कुछ ढांचे बनाने पर बल देता है ताकि विषय विशेषज्ञ, शिक्षार्थी एवं राजनेता आदि एक साथ संवाद कर सकें।

सत्ता, शिक्षा और पाठ्यचर्या

कुछ टिप्पणियां

सी. एन. सुब्रमह्यण्यम

हाल का यह कार्टून विवाद भारतीय शिक्षा के संबंध में कई अहम् समस्याओं को चर्चा के केन्द्र में लाया है। मेरा यहां उद्देश्य इस विवाद का समाधान खोजना नहीं है, परन्तु कुछ मूल समस्याओं को विमर्श के लिए खोलना है तथा मेरी अपनी दुविधाओं व समझ की कमी को साथियों से बांटना है।

समालोचनात्मक शिक्षाशास्त्र और संवेदनाएं

एनसीईआरटी की नई पाठ्यपुस्तकों का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास यह है कि इनमें स्कूली शिक्षा के स्तर पर समालोचनात्मक शिक्षाशास्त्र के सिद्धांतों को लाया गया है। इसके तहत हम तार्किक विश्लेषण तथा बहुपक्षीय, टकरावयुक्त और विविधतायुक्त सोच और विमर्श को जागृत करने का प्रयास करते हैं। साथ में यह भी एक विश्वास है कि इस प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए लोकतांत्रिक विमर्श की मर्यादाओं को स्थापित किया जाएगा जिसमें दूसरों के विचारों को धैर्य और सम्मान के साथ सुनना और अपने अनुभव और विचारों को भी प्रभावी तरीके से और संवेदनशीलता के साथ सबके सामने रखना शामिल है।

समालोचना की परंपरा ऐसी रही है कि वह तार्किकता को सर्वोच्च स्थान देती है और संवेदनाओं तथा भावनाओं को कुछ समय के लिए स्थगित करने पर जोर देती है। अक्सर जब हम धर्म या जाति के इतिहास की कक्षा लेते हैं तो शुरू में हम सबसे कहते हैं कि हो सकता है कि ऐतिहासिक विश्लेषण के दौरान आपके कई गहरे धार्मिक या सामाजिक विश्वासों व भावनाओं

परिचय

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से इतिहास में एम.ए. करने के बाद करीब 25 वर्षों से स्वयं सेवी संगठन एकलव्य, भोपाल से संबद्ध हैं और सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम में इतिहास विषय पर कार्य कर रहे हैं।

को चोट पहुंचे, मगर अध्ययन की इस विधा की यह एक जरूरत है। अतः कुछ समय के लिए हम अपनी भावनाओं व विश्वासों को विराम देकर यह यात्रा करें और बाद में फिर से उन विश्वासों पर विचार करें। यह कहना आसान है मगर करना कठिन है और निश्चित ही कक्षा में उपस्थित बहुत से लोग आहत होते होंगे।

तार्किकता और समालोचना का चरित्र यह रहा है कि वे अक्सर संवेदनाओं और भावनाओं को सीधे चुनौती देते हैं और हास्य आदि का उपयोग करते हुए उन्हें ध्वस्त करने का प्रयास करते हैं।

तार्किक सोच और लोकतांत्रिक सोच के विकास के लिए इन बातों की अहमियत को कोई नकार नहीं सकता। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया का सत्ता के साथ जो गहरा संबंध है उस पर अक्सर ध्यान नहीं दिया जाता है क्योंकि यह एक प्रारंभिक मान्यता है कि तर्क अपने-आपमें एक सत्ता है और वह किसी और सत्ता की परवाह नहीं करता। लेकिन तर्क की सत्ता वास्तव में किसी सामाजिक तबके की सत्ता पर सवार होती है। तर्क की स्वतंत्रता काफी सीमित है और कुछ हद तक वह अपनी इस परिस्थिति के प्रति अंधा भी है।

तर्क और समालोचना अभिजात्य वर्गों द्वारा अन्य तबकों को नियंत्रण में रखने का साधन बन सकती है और उसी तरह वंचित तबकों द्वारा चुनौती का साधन भी बन सकती है। अतः तार्किक या समालोचनात्मक चिंतन सामाजिक तबकों की राजनीति से गहरे रूप से जुड़े हुए होते हैं।

जब किसी उच्च जाति बाहुल्य कक्षा में किसी कार्टून को लेकर तार्किक विश्लेषण किया जाएगा तब उसका उपयोग वे कैसे करेंगे या उस कक्षा के किसी दलित छात्र या छात्रा पर क्या गुजरेगी, इसका आकलन आसान नहीं है। यही नहीं हमारे अधिकांश शिक्षकों ने उन विद्वानों से अपनी शिक्षा नहीं प्राप्त की है जो आधुनिक समालोचना व लोकतंत्र के मूल्यों से उन्हें अवगत करा सकें। उनकी मानसिकता अभी भी जातिवादी विचारों व भावनाओं से ग्रस्त है। दरअसल यह एनसीएफ 2005 का सबसे कमजोर पक्ष रहा है कि उसमें शिक्षकों को उसकी जरूरत के अनुरूप तैयार करने का प्रयास न के बराबर किया गया है। जो भी प्रयास हुए हैं वे सांकेतिक मात्र रहे हैं। तो किसी वास्तविक भारतीय कक्षा में इस कार्टून या किसी अन्य मुद्दे का क्या अंजाम होगा, यह विचारणीय है।

समालोचनात्मक शिक्षाशास्त्र क्या एक परिपक्व लोकतांत्रिक समाज में ही संभव है या क्या लोकतांत्रिक चिन्तन को परिपक्व बनाने के लिए इसे पहले ही उपयोग में लाना चाहिए और इस क्रम में जो विसंगतियां या गैर-संवेदनशील व्यवहार होंगे, क्या उन्हें हम लाजमी मानकर आगे बढ़ जाएं? इस सवाल का उत्तर देना खासा मुश्किल है और खासकर एक उच्च मध्यम वर्ग के उच्च जातीय पुरुष के लिए। शायद उसे अन्य लोगों के विचारों को बहुत सम्मान के साथ स्वीकार करना होगा।

यहां एक उदाहरण मैं एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम से देना चाहता हूं। जाति के इतिहास पर एक अध्याय लिखा जा रहा था, उसमें चर्चा के लिए कुछ सवाल थे कि आपके गांव में दलित तबकों के साथ कैसा व्यवहार होता है। हम नौजवान लेखक थे। हम मानते थे कि इस प्रश्न के उत्तर में दलित बच्चों का अनुभव उभरेगा और उनकी आवाज को जगह मिलेगी आदि-आदि। लेकिन शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान सभी शिक्षकों ने एक मत होकर हमसे कहा कि ऐसे प्रश्नों को वे कक्षा में संभाल नहीं पाएंगे। उनमें दलित शिक्षक और वामपंथी विचार वाले शिक्षक भी शामिल थे। हमारे निजी विचार और कक्षा को संभालने को लेकर हमारे जो भी विचार या क्षमताएं रही हों, हमें पढ़ाने वाले शिक्षकों के सुझाव को मानना पड़ा और उन प्रश्नों को हटाना पड़ा। इसलिए नहीं कि हम दबाव के आगे झुके, मगर इसलिए कि हम समझ रहे थे कि शिक्षक वास्तव में चर्चा को अकादमिक सीमाओं के अन्दर रोक नहीं पाएंगे।



दलित संवेदना का मुद्दा

इस विषय पर कुछ चर्चा ऊपर हो चुकी है। लेकिन मैं इस बात पर भी चिन्तित हूं कि दलित चिन्ताएं केवल प्रतीकों व पहचान-राजनीति के मुद्दों तक ही क्यों सीमित हैं और तमाम ठोस समस्याएं उनके नजर में क्यों नहीं पड़तीं? हमारी पुस्तकों में दलितों को कैसे चित्रित किया गया है, उनकी समस्याओं व आंदोलनों को कितना और कैसा स्थान दिया गया है और शिक्षकों को उनके प्रति कितना संवेदनशील बनाया गया है... सभी मानेंगे कि इन पुस्तकों में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर दलितों की उपस्थिति सकारात्मक रूप से दर्ज हुई है और उनसे संबंधित मुद्दों (चाहे वे विस्थापन के हों या कुछ और) का खुलासा किया गया है। लेकिन जब यह नहीं हुआ था या जिन राज्यों की पुस्तकों में यह हुआ ही नहीं है, उनके प्रति आंदोलन में एक उदासीनता दिखती है। जिस तरह की चिन्ता नारीवादियों ने पिछले कुछ दशकों से दिखाई है, उसके फलस्वरूप देशभर के बुद्धिजीवी तथा पाठ्यपुस्तक लेखक संवेदनशील हुए हैं और उनकी यह संवेदना काफी हद तक पुस्तकों में भी झलकती है। शायद यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दलित मसलों पर संवेदनशीलता वास्तव में नारीवादी आंदोलन और विचारों से काफी हद तक उभरी है।

इस बात पर हमें विचार करना है कि क्यों जाति विरोधी आंदोलन या दलित आंदोलन स्कूली शिक्षा व पाठ्यक्रम के प्रति उदासीन हैं? क्यों वह आंदोलन इन मसलों पर एक व्यापक बहस नहीं छेड़ पाया है?

एनसीएफ और पाठ्यपुस्तक

एक मायने में एनसीएफ 2005 की विचारधारा के तहत मानक पाठ्यपुस्तकों का कोई स्थान नहीं होना चाहिए था। भारतीय शिक्षा संप्रदाय में पाठ्यपुस्तकों का एक खास स्थान या भूमिका है। वह तयशुदा ज्ञान का एक संकलन है जिसे ग्रहण करके हम ज्ञानवान बनते हैं। शिक्षक उस ज्ञान को हम तक पहुंचाने में मदद करता है। एनसीएफ 2005 इसमें निहित ज्ञान और शिक्षण सिद्धांत दोनों को चुनौती देता है और मानता है कि ज्ञान कोई तयशुदा चीज नहीं है मगर विभिन्न संवादों से उपजी परिवर्तनशील समझ है जिसे सतत चुनौती दी जा सकती है और दी जानी ही है। सीखना कोई निश्चित ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया नहीं है बल्कि अपने निजी अनुभव और समझ के मायने निकालना, अन्य लोगों के अनुभव व समझ के साथ सार्थक संवाद करना और इस प्रक्रिया में नए ज्ञान का सृजन करना है। किसी भी तरीके से हम देखें तो इस शिक्षाशास्त्र या ज्ञानशास्त्र (एपिस्टेमॉलजी) में एक मानक पाठ्यपुस्तक के लिए कोई स्थान नहीं है। अगर कक्षा में शिक्षकों व छात्रों को सामूहिक रूप से नए ज्ञान का सृजन करना है तो पाठ्यपुस्तक का क्या काम है? एनसीएफ 2005 के तहत बनी कई पाठ्यपुस्तकों में इस विडंबना के उत्तर के लिए इन पाठ्यपुस्तकों के अन्दर संवाद, चुनौती, छात्र-शिक्षकों के अनुभवों पर विमर्श आदि के लिए जगह बनाई है। इस कारण पाठ्यपुस्तकें तयशुदा ज्ञान का भण्डार न रहकर संभावित शैक्षणिक सामग्रियों का संकलन बन जाती है जिनसे जुड़कर नए ज्ञान का सृजन करना है। इसी तारतम्य में ये चर्चित कार्टून शामिल किए गए हैं।

लेकिन इस सामग्री का स्वरूप एक राष्ट्रीय पाठ्यपुस्तक का है यानी, उसे वही दर्जा प्राप्त है जो मानक ज्ञान के भण्डार को प्राप्त है। इसीलिए पाठ्यपुस्तक का हर अंश चित्र हो या कैप्शन या पठन सामग्री या प्रश्न;

वह उस उच्च स्तर को प्राप्त कर जाता है जहां वह अस्मिता की राजनीति का अहम् मुद्दा बन जाता है।

मेरा मानना है कि एनसीएफ 2005 की एक सबसे महत्त्वपूर्ण विडंबना यह है कि उसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक पाठ्यपुस्तकों का रूप लिए हुए है जबकि उसका फलसफा पाठ्यपुस्तकों को ध्वस्त करके विविध सामग्री को शिक्षण का साधन बनाने की ओर इशारा करता है। इस विविध सामग्री के निर्माण में शिक्षक और छात्रों की भी अहम् भूमिका होती है। ऐसे में किसी पठन सामग्री या चित्र में क्या था और उसका किसी समुदाय की अस्मिता पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, आदि बातें निरर्थक हो जाती हैं - कम से कम राष्ट्रीय स्तर पर। वे स्थानीय बहस के मुद्दे बनते हैं।

लेकिन एनसीएफ 2005 से जुड़े विद्वानों ने ऐसा विरोधाभासी कदम क्यों उठाया? मुझे लगता है कि यह उनका वास्तविक परिस्थितियों से समझौता था। असली जरूरत थी, शिक्षकों व पालकों से शिक्षा, ज्ञान और विषयों के बारे में संवाद बनाना और नए विचारों को लोगों के बीच एक चर्चा का विषय बनाना। लेकिन इसके लिए न शासन के पास धैर्य या आर्थिक प्रावधान था न ही ढांचागत व्यवस्था। न ही हमारे विद्वानों के पास इसके लिए समय या श्रद्धा है। वास्तव में इस काम को युद्ध स्तर पर किया जाना जरूरी था और इसके लिए इन विचारों में श्रद्धा रखने वालों की एक फौज की जरूरत थी। ऐसे में स्थानीय समुदाय और शिक्षकों के प्रति एक अविश्वास भी था कि उन पर छोड़ देंगे तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। इस अनर्थ से बचने के लिए ऐसी पुस्तकें रची गईं जो विद्वान लेखकों को ठीक लगे, भले ही वह शिक्षकों व बच्चों की समझ से कोसों दूर हों। वास्तव में यह एनसीएफ 2005 की विचारधारा का एक दुखद हश्र है कि अंततः वह अपने ही सिद्धांतों से दूर होता गया।

पाठ्यपुस्तक व पाठ्यचर्या निर्धारण में विद्वान, शासन और संसद की भूमिका

उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप के प्रगतिशील विचारकों ने सार्वजनिक शिक्षा में राज्य सत्ता की भूमिका को चर्च की भूमिका के समकक्ष रखा था और माना कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में चर्च और राज्य दोनों को शिक्षा से अलग रखा जाना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने अपने चर्चित लेख 'गोथा कार्यक्रम की समालोचना' में इस पर काफी तीखे अंदाज में लिखा है। इसके पीछे दो तरह के कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि तत्कालिक राज्य काफी अलोकतांत्रिक थे और किसी भी देश में सभी वयस्कों को वोट देने का अधिकार नहीं था। खासकर जर्मनी में जिसके संदर्भ में मार्क्स लिख रहे थे वहां राज्य का काफी अलोकतांत्रिक चरित्र था। तो सवाल उठना वाजिब है कि क्या यह विचार आज भी प्रासंगिक है, जब हमारी सरकारें सार्वभौमिक मतदान के आधार पर चुनी जाती हैं और हम दावा कर सकते हैं कि कुछ हद तक ये लोकतांत्रिक परंपराओं के दायरे में काम करती हैं। इस चर्चा में यह भी प्रासंगिक बात होगी कि चाहे वह क्रांतिकारी साम्यवादी शासन हो या उदारवादी लोकतंत्र हो दोनों ने लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धांतों को मानते हुए शिक्षा और स्वास्थ्य में शासकीय पहल को महत्त्वपूर्ण माना और किया। तो एक विचार यह हो सकता है कि मार्क्स जैसे विचारकों का यह आग्रह कि शासन को शिक्षा से दूर रखा जाना चाहिए, आज प्रासंगिक नहीं है।

लेकिन इस विचार का एक और पक्ष है जो किसी शासन तंत्र का लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुने जाने या न चुने जाने से जुड़ा नहीं है, मगर एक दार्शनिक स्तर की बात है। उन्नीसवीं सदी में जब आधुनिक राज्य का निर्माण हो रहा था तो प्रगतिशील तबकों में उसकी गहरी आलोचना भी हुई और बहस भी। हालांकि सबने माना कि राज्य और लोक स्वतंत्रता विरोधाभासी हैं, इस पर मतभेद था कि क्या राज्य एक औजार है या मूल विरोधी। अराजकतावादियों का स्पष्ट मत था कि राज्य का विरोध करना हमारा एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और राज्य विहीन समाज का निर्माण ही हमारा ध्येय है। गांधी जी इस विचार से काफी प्रेरित थे और उनकी बुनियादी शिक्षा की अवधारणा काफी हद तक इससे संबंध रखती थी। साम्यवादियों ने माना

कि हमारा उद्देश्य राज्य विहीन समाज है, लेकिन उनका मत था कि राज्य को मात्र एक औजार के रूप में देखना चाहिए और उसकी मदद से साम्यवाद को स्थापित करना होगा।

चूंकि प्रगतिशील विचारधारा की सभी धाराओं ने यह माना कि आधुनिक राज्य मूलतः एक गैर-लोकतांत्रिक संस्था है जो लोगों की स्वतंत्रता व हकों को छीनती है और उसके द्वारा दी गई शिक्षा विकृति ही पैदा करेगी। काफी हद तक इस बात की पुष्टि जर्मन सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के संदर्भ में देखी जा सकता है। हालांकि जर्मनी उन देशों में अव्वल था जिन्होंने सार्वजनिक सार्वभौमिक शिक्षा प्रणाली स्थापित की थी, वह प्रणाली बेहद सोपानक्रमिक थी और छात्रों में राजभक्ति और स्वामिभक्ति विकसित करना उनका प्रमुख उद्देश्य था। ऐसी शिक्षा प्रणाली और फासीवाद के उदय के बीच संबंध देखना अनुचित नहीं होगा।

गांधी जैसे चिन्तकों का मानना था कि शिक्षा का किसी प्रकार का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए और उसे राज सत्ता के अधीन नहीं होना चाहिए। छोटे समुदायों को अपनी जरूरत के अनुसार अपने बच्चों की शिक्षा स्वावलंबी तरीके से करनी होगी अन्यथा वे राज्य के गुलाम बनकर रह जाएंगे और अपनी स्वायत्तता खो बैठेंगे।

इसमें एक रोचक समस्या पर भी हमें विचार करना होगा। कई गैर-लोकतांत्रिक धाराएं भी यह मानती हैं कि चूंकि आधुनिक राज्य उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांतों के आधार पर काम करता है, उसकी शिक्षा प्रणाली से बच्चों के मन में प्राचीन परंपराओं व राष्ट्र के प्रति निष्ठा व आस्था कमजोर हो जाएगी। इस कारण वे भी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की जगह निजी प्रणाली पर जोर देते हैं। हम राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शैक्षणिक विचारों को इस श्रेणी में रख सकते हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में यथार्थ कुछ और ही दिशा में विकसित हुआ। इन दो शताब्दियों में राष्ट्र-राज्य आधुनिक राज्य का मानक स्वरूप बना। राष्ट्र निर्माण परियोजना में खास तरह के नागरिकों का निर्माण निहित था और राज्य द्वारा नियंत्रित सार्वभौमिक शिक्षा इसका वाहन बन गया। राष्ट्रीय इतिहास, राष्ट्रीय भाषा, राष्ट्रीय परंपराएं, इन सबके विकास में इस राज्य नियंत्रित सार्वभौमिक शिक्षण की अहम् भूमिका थी। अधिकांश राष्ट्र-राज्यों ने उदारवादी लोकतंत्र को अपना सैद्धांतिक आधार बनाया। अतः ये राज्य एक व्यापक राष्ट्रीय सहमति के आधार पर बने, जिसमें समाज के विभिन्न तबकों को उनके आर्थिक और सामाजिक ताकत के अनुसार जगह दी गई थी। राज्य द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में उन सबको उनके शक्ति के अनुरूप जगह भी मिलनी थी जबकि प्रभुत्व वाले सत्ता पर अपना वर्चस्व बनाए रहे।

इस प्रकार राज सत्ता ने लोक शिक्षण और पाठ्यक्रम पर अपना शिकंजा कसकर ही रखा और इस नियंत्रण के कारण शिक्षा एक सीमा तक प्रगतिशील विचारों के अनुरूप ढली। उदाहरण के लिए, बहुत से राष्ट्रों में शिक्षा सामाजिक उन्नयन (मोबिलिटी) का माध्यम बन पाई और यह खासकर उन देशों में काफी महत्त्व रखता था जहां उत्पादक संसाधनों पर कुछ खास वर्गों का कब्जा वैसा का वैसा ही बना रहा।

अगर हम भारत का ही उदाहरण लें तो पाएंगे कि महिलाओं व दलित-आदिवासियों को जमीन या पूंजी पर तो अधिकार नहीं मिला मगर शिक्षा के माध्यम से आगे बढ़ने का मौका मिला। साथ ही पुरानी सामन्ती, जातिवादी और हिन्दूवादी पाठ्यपुस्तकों की जगह काफी हद तक राष्ट्रवादी, लोकतांत्रिक, वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष पाठ्यपुस्तकें बनीं। यह भी दावा किया जा सकता है कि अगर इस काम में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता तो स्कूली शिक्षा में पुरातनपंथी विचारों का बोलबाला बना रहा होता।

आज की तारीख में भी जब हम यह देखते हैं कि शासन का विकल्प (गांधी द्वारा कल्पित) समुदाय नहीं है बल्कि एक आक्रामक पूंजीवादी बाजार है, तो लगता है कि व्यापक शिक्षा में वैकल्पिक सोच को बनाए रखने

में राज सत्ता की भूमिका जरूरी है। एनसीएफ 2005 और उसके तहत बनी पाठ्यपुस्तकें इसके प्रमाण हैं।

ऐसे में यह सवाल उत्पन्न होता है कि क्या हम उन्नीसवीं सदी के राज्य को खत्म करने के एजेण्डा को कुछ देर ताक में रखकर राज्य की भूमिका को नेगोशिएट करने के बारे में विचार करें?

इसका सीधा मतलब यह है कि सार्वजनिक शिक्षा के मामलों में संसद या विधान सभा की सर्वोच्चता को स्वीकार करना होगा और उसके अन्तर्गत तर्क और विवेकसम्मत निर्णयों के लिए लड़ना भी होगा। इस दोहरे दायित्व को निभा पाने की क्षमता क्या हम शिक्षाकर्मियों में है?

विद्वानों व विषय विशेषज्ञों की इसमें एक अहम् भूमिका जरूर है। उनसे एक स्व-शासित स्पेस में शासन और राज्य को भी विमर्श के दायरे में लाकर अन्वेषण करने और अपने विचारों को प्रकाशित करने तथा उसे शिक्षा के दायरे में लाने के लिए प्रयास करने की भी जरूरत है। लेकिन शिक्षा में लाना एक राजनैतिक नेगोशिएशन होगा जो विषय विशेषज्ञों के दायरे से ज्यादा व्यापक होगा। हमें यह भी याद रखना होगा कि हमारे प्रगतिशील विशेषज्ञों के चरित्र जटिल हैं जिन्हें भी विमर्श के दायरे में लाया जा सकता है - उनके वर्ग, जाति, लिंग, क्षेत्रीयता, आम लोगों से दूरी, पश्चिमाभिमुखीपन, राजनीति के प्रति उदासीनता या भोलापन आदि। चूंकि यह विमर्श अक्सर अकादमिक दायरों में नहीं हो पाता है, सार्वजनिक स्पेस में उसके तरीकों से होता है जो हमें काफी नागवार गुजरता है।

तो मैं फिर से इस दुविधा में पड़ जाता हूं कि अकादमिक स्वतंत्रता और सार्वजनिक शिक्षा के बीच के इस जटिल संबंध को किस प्रकार निभाएं और क्या उसके तरीके व ढांचे हमारे पास उपलब्ध हैं?

संस्थागत ढांचों व पारदर्शिता का मुद्दा

मुझे लगता है कि कार्टून का यह मसला हमें इन मुद्दों से जूझने के लिए कुछ ढांचे बनाने के लिए प्रेरित करता है जिसमें हम विषय विशेषज्ञ, शिक्षाकर्मी, राजनेता आदि को एक साथ ला सकें और वार्तालाप कर पाएं और कुछ पारदर्शी तरीकों से विचार विमर्श और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं को बना सकें। विभिन्न मीडिया में जिस तरह की चर्चा हो पाई शायद यह भी हमारे लिए आगे के कुछ रास्ते खोलती है।

वास्तव में मेरी चिन्ता इस बात से है कि तमाम राज्यों में सार्वजनिक शिक्षण के निर्णय खासकर पाठ्यचर्या व पुस्तकों से संबंधित निर्णय बिना किसी पारदर्शी या ढांचागत तरीकों से लिए जाते हैं जिससे उसमें भाग लेने वाले तात्कालिक नौकरशाह, उनके द्वारा आमंत्रित विशेषज्ञ आदि मिलकर लेते हैं। आजकल तो यह भी प्रचलन में आ गया है कि इस तरह के काम में कार्पोरेट कंपनियों व उनके द्वारा संचालित संस्थाओं को शामिल किया जा रहा है। मैं भी इनमें भागीदार रहा हूं और काफी असमंजस महसूस करता रहा हूं कि हमारी भूमिका क्या हो? राज्यों में न तो इस काम के लिए सही ढांचे हैं, न प्रक्रियाएं निर्धारित हैं। काफी तदर्थ (एडहॉक) तरीकों से काम होता है, बस यह प्रयास होता है कि मंत्रीजी द्वारा विधान सभा में घोषित तारीख से पहले किताबें बन जाएं और उनमें ऐसी कोई बात न हो जो विवादस्पद हो। आखिर संबंधित संस्था के निदेशक को उसका जवाब देना होगा...। इस स्व-आरोपित सेंसरशिप में किस बात को विवादास्पद माना जाता है, किसे नहीं, इसका कोई मापदण्ड नहीं होता है और न ही दस्तावेजीकरण। हम जरूर प्रयास कर सकते हैं कि ऐसे ढांचे बनें व प्रक्रियाएं स्थापित हों, मगर राज्य शासन में इसके प्रति न तो श्रद्धा है न कटिबद्धता।

मुझे यह लगता है कि वास्तव में यह हमारे सार्वजनिक शिक्षण में गैर-व्यवसायिकता का द्योतक है। शिक्षा को अभी भी एक चलते-फिरते किए जाने वाले काम के रूप में देखा जा रहा है। इस परिस्थिति को कैसे बदलें, यह एक अधिक महत्त्व का विषय लगता है। ◆